RESEARCH REVIEW JOURNALS
Volume-04
Issue-06
June-2019

ISSN: 2455-3085 (Online)
RESEARCH REVIEW International Journal of Multidisciplinary
www.rrjournals.com[UGC Listed Journal]

धर्म एवं राजधर्म

डा. रेणु सिंह

शिक्षिका (राजनीति विज्ञान) श्री राम लखन सिंह यादव सर्वादय उच्चत्तर माध्यमिक विद्यालय, पुनाईचक, पटना-23

ARTICLE DETAILS

Article History
Published Online: 12 June 2019

Keywords
धर्म, सहिष्णुता, राजधर्म, उपनिषद्, वेद.

ABSTRACT

धर्म की अवधारणा एवं राजधर्म की व्याख्या धर्म के सापेक्ष की गई है। चूँकि धर्म और राजनीति के बीच प्राचीन भारतीय इतिहास एवं साहित्य में बहुतेरे सामग्री है, जो यह चिन्हित करने में समर्थ है कि धर्म और राजनीति का संबंध काफी निकट का रहा है। ''धर्म'' शब्द स्वयं में अत्यंत व्यापकता लिए हुए है। इसके उच्चरण से ही संबंधित जाति या समाज का इतिहास और उसके जीवन की भूमिका सामने आ खड़ी होती है। धर्म शब्द में जाति विशेष की सभ्यता, संस्कृति, आचार, विचार, रहन-सहन, रीति-रिवाज तथा जीवन प्रणाली की प्रक्रिया ओर निर्देशन प्रस्तुत होता है। धर्म से अभिप्राय - नैतिकता, दर्शन, कर्मकाण्ड और चमत्कार से है, वहीं राजधर्म राजा की सर्वोच्चता को प्रजाहित में सीमित करने के साथ दण्ड की भी व्यवस्था करता है। वस्तुतः भारत की धार्मिक एवं सांस्कृतिक परंपराओं ने धर्म को राजा से अधिक सम्मान प्रदान किया है।

भूमिका

प्राचीन भारत में धर्म की अवधारणा को समझने के लिए हिन्दू जीवन दर्शन, धर्म की उत्पत्ति, उद्भव, अर्थ, विभिन्न चिन्तकों के दृष्टिकोण, वैदिक-ग्रंथ, पुराण, उपनिषद्, एवं कौटिल्यकालीन धर्म-व्यवस्था की रूपरेखा के विश्लेषण के साथ उसके स्वरूप एवं महत्त्व को समझना आवश्यक है। इसके साथ-साथ सार्वभौमिक धर्म एवं सामाजिक धर्म के अंतर को समझते हुए, धर्म एवं राजधर्म के विशिष्ट पहलुओं को समझना आवश्यक है। इस हेतु हिन्दू जीवन दर्शन के तत्त्व से हम धर्म की अवधारणा पर प्रकाश डालने हुए कह सकते हैं कि - हिन्दू जीवन दर्शन तथा सामाजिक व्यवस्था में धर्म अत्यन्त प्रभावशाली अवधारणा है। मनुष्य की अनेक प्रकार की तथा विभिन्न इच्छायें एवं संघर्षात्मक आवश्यकतायें होती हैं। धर्म का उद्देश्य इस सब इच्छाओं तथा आवश्यकताओं को नियमित, व्यवस्थित, तथा संयोजित करना है।

उपर्युक्त दृष्टि से धर्म वह अवधारणा है जो नवजीवन की विविधताओं एवं भिन्नताओं को, अभिलाषाओं तथा लालसाओं को, भोग तथा त्याग को मानवीय आदर्शो एवं मूल्यों को नियमबद्ध कर समता व नियमितता प्रदान करती है।

संसार में जितने भी धर्म हैं, उनका अपना महत्त्व और स्वत्व तो है ही, किन्तु प्राचीन भारत में धर्म और हिन्दू जाति की अपनी विशेष महत्ता और सत्ता रही है। भारतीय धर्म अन्य सभी धर्मों और जातियों का समादर तथा सम्मान करने में अग्रणी रहे हैं। प्राचीन भारत को धर्म के क्षेत्र में अपनी उपलब्धियों के लिए जो सम्मान प्राप्त है वह सर्वथा न्यायोजित है। भारत में सत्य की खोज बहुत गहन रूप से की गयी है वह सर्वथा न्यायोचित है। भारत में सत्य की खोज बहुत गहन रूप से की गयी और बहुधा यह कष्ट साध्य भी रही। विचारों के क्षेत्र में अनेक प्रयोगों द्वारा जो कुछ उपलब्ध हुआ, उसकी कहानी बहुत वैविध्यपूर्ण है।[1]

बी.जी. गोखले ने धर्म की अवधारणा के संबंध में लिखा है कि ''हिन्दू जीवन धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष की अवधारणा से ओतप्रोत है। यहाँ तक कि हिन्दू मान्यताओं में यह माना जाता है कि इतिहास में उस भूतकाल का वर्णन है जिसमें जीवन के चार आदर्शों - धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष की पूर्त्ति तथा प्राप्ति का प्रयास निहित रहता है। लेकिन इन चार धारणाओं में केवल धर्म की धारणा ही ऐसी हो जो भारतीय विचारधारा में युगों-युगों से चली आ रही है और जिसके द्वारा एक बड़े जनसमूह में एक निश्चित विचार तथा व्यवहार कलाप का निर्माण हुआ है। धर्म शब्द की व्युत्पति इतनी व्यापक है कि इसका प्रयोग मानव-क्रिया के सभी रूपों के निर्धारण तथा निर्माण के लिए किया गया है। भारतीय संस्कृति की तीन विशेषतायें, आध्यात्मिकता, औजस्विता और बौद्धिकता धर्म की धारणा के विभिन्न रूपों से ही अविभूत हुई है। जैसा कि डा. राधाकृष्णन ने कहा है कि धर्म की धारणा उन रूपों और क्रियाओं को समेटे हुए है जो मानव जीवन का आधार है और जिनसे मानव जीवन का निर्माण हुआ है। मानव जीवन में विभिन्न अभिरूचियों अनेक आकांक्षाओं और विरोधी आवश्यकताओं का समावेश हुआ है। यह अभिरूचियाँ, आकांक्षायें और आवश्यकतायें

RRIJM 2015, All Rights Reserved

बढ़ती और परिवर्तित होती रहती है। हिन्दुत्व में विकसित धर्म की धारणा का उद्देश्य है इन सभी को एक इकाई में समन्वित करना। धर्म- सिद्धांत हमें आध्यात्मिक वास्तविकताओं को पहचानने के प्रति जागरूक बनाता है। किन्तु यह जागरूकता संसार का त्याग करने से नहीं आती है। यह जागरूकता आती है सांसारिक जीवन में अर्थ-काम और आध्यात्मिक आस्था को नियंत्रित करने वाली शक्ति का समन्वय करने से । जीवन की अभिरूचियाँ, आकांक्षायें और आवश्यकतायें अनेक हैं किन्तु जीवन एक सुगठित इकाई है। यहाँ लौकिक तथा अलौकिक में अंतर नहीं है और न शक्ति तथा मुक्ति ही परस्पर विरोधी हैं क्योंकि मानव जीवन में लौकिक तथा अलौकिक दोनों का समावेश हुआ है। यहाँ धर्म, अर्थ और काम साथ-साथ चलते हैं। यही कारण है कि धर्म की धारणा से मानव जीवन, उसकी आकांक्षाओं तथा अर्हताओं को एकता मिलती है। इस प्रकार धर्म मानव जीवन संबंधी वह धारणा है जिसके द्वारा मानव जीवन के लौकिक तथा अलौकिक पक्षों को एक सूत्र में पिरोकर, एक आदर्श समाज में व्यक्ति के अधिकार तथा कर्त्तव्यों को एक व्यापक सिद्धांत में निरूपित करने का प्रयास किया गया, धर्म एक ओर मानव की संपूर्ण नैतिक क्रियाओं की विधि है और दूसरी ओर एक प्रकार का वह शीशा जिसमें मानव की सभी नैतिक क्रियाएँ प्रतिबिम्बित होती है।[2]

धर्म का अर्थ - प्राचीन भारतीय जीवन के विभिन्न पहलू धर्म से अत्यधिक प्रभावित हैं। 'धर्म' शब्द अत्याधिक व्यापक अर्थ का सूचक है। डा. पी.वी. काणे ने लिखा है कि 'धर्म' शब्द उन संस्कृत के शब्दों में से है जिनका प्रयोग कई अर्थों में होता है। यह शब्द अनेक परिवर्तनों एवं विपर्यर्यों के चक्र में घूम चुका है।[3]

ऋग्वेद में 'धर्म' 'धार्मिक विधियों' या धार्मिक क्रिया-संस्कारों के रूप में प्रयुक्त हुआ है। ऋग्वेद के बहुत से मन्त्र अथर्ववेद में मिलते हैं, जिनमें 'धर्मन् शब्द का प्रयोग हुआ है। अथर्ववेद में 'धर्म' शब्द का प्रयोग 'धार्मिक क्रिया संस्कार करने से अर्जित गुण' के अर्थ में हुआ है। अथर्ववेद में एक स्थान पर आया है - ''ध्रुवा भूमि पृथ्वी धर्मणा धृताम्।'' अथात् पृथ्वी धर्म को धारण करती है इसी प्रकार तैत्तिरीय आख्यक में कहा गया है ''धर्म सम्पूर्ण जगत में प्रतिष्ठित है, धर्मनिष्ठ के पास ही (अपने संकटों के निवारण हेतु) प्रजाजन आते हैं धर्म से ही पाप दूर होते हैं धर्म सबकी प्रतिष्ठा है इसलिए धर्म को सर्वश्रेष्ठ कहा गया है'' यथा -

''धर्मो विश्वस्थ जगतः प्रतिष्ठा लोके धर्मिष्ठ प्रजा।
डपसर्यन्नित, धर्मेण पापमनुर्दान्त धर्म सर्व प्रतिष्ठितम् तस्मद् धर्म परम वदन्ति ।''

इसी प्रकार महाभारत में कहा गया है -[4]

''धारणादधर्म मित्याहु धर्मो धारयति प्रजाः ।
यत् स्यात धारणसयुक्तं स धर्म इति निश्चयः ।''

अर्थात् धारण करने के कारण धर्म कहलाता है, धर्म प्रजा को धारण करता है, जो धारण संयुक्त है वह धर्म है यह निश्चित है।

भारतीय संस्कृति का मूलाधार आचार माना गया है। आचार के आधार पर ही हिन्दू समाज का निर्माण हुआ था भारतीय समाज सदा से धर्म परायण समाज रहा है। अनादि से अनन्त एवं गंभीर चतुर्दश विधाओं के ग्रंथों से प्रेरणा एवं स्फूर्ति पाता रहा है। धर्म की यह परंपरा भारतीय समाज की अति प्राचीन परंपरा है और पूर्व वैदिक काल से इसकी निरंतरता अविछिन्न रूप से बनी हुई है। याज्ञवलक्य स्मृति में उल्लेख आया है कि धर्म ही भारतीय जीवन का सर्वोच्च अंग माना गया है। मनुष्य की सभी क्रियाकलापों का अंतिम लक्ष्य संचय करना है।

धर्म रूपी वृक्ष का ज्ञान 14 विधाओं से हमें प्राप्त होता है यथा -

पुराणन्याय मीमांसा धर्मशास्त्रांग मिश्रताः
वेदाः स्थनानि विधाानां धर्मस्य च चतुर्दश ।।[5]

इस प्रकार हम कह सकते हैं कि धर्म किसी न किसी प्रकार की अतिमानवतीय या अलौकिक या समाजोपरि शक्ति का विश्वास है जिसका आचार भय, श्रद्धा, भक्ति, और पवित्रता की धारण है और जिसकी अभिव्यक्ति प्रार्थना, पूजा या आराधना है।

प्राचीन साहित्य एवं इतिहास में वर्णित धर्म के विषय को दृष्टिगत रखने पर धर्म के दो स्वरूप स्थूल रूप से सामने आते हैं। प्रथम सार्वभौमिक स्वरूप द्वितीय सामाजिक स्वरूप। धर्म के सार्वभौमिक स्वरूप में नैतिक कर्त्तव्यों के उस विस्तृत क्षेत्र के प्रति संकेत करता है जो जाति, प्रान्त, देश, काल आदि की सीमाओं में नहीं बँधा है। सार्वभौमिक स्वरूप वास्तव में धर्म या नैतिक कर्त्तव्यों के स्रोत पर बल देता है।

जबकि धर्म का सामाजिक स्वरूप व्यक्ति के स्वयं के सामाजिक जीवन से संबंधित नियमों तथा कर्त्तव्यों से सम्बद्ध है। सामाजिक स्वरूप में सर्वप्रथम वर्णधर्म को रख सकते हैं। कौटिल्य के अनुसार ऋग्वेद, सामवेद तथा यजुर्वेद (त्रयी) में वर्णित धर्म चारों वर्णों एवं चारों आश्रमों को अपने धर्म (कर्त्तव्यों) में स्थिर रखता है, अतः वह संसार का परम उपकार है।[6] अर्थशास्त्र में चारों वर्णों के धर्म को निरूपण करते हुए कहा गया है - ब्राह्मण का धर्म अध्ययन-अध्यापन, यज्ञ-याज्ञन और दान देना तथा दान लेना है। क्षत्रिये का धर्म अध्ययन, दान देना, शस्त्र बल से जीविकोपार्जन करना और प्राणियों की रक्षा करना । वैश्य का धर्म अध्ययन, यज्ञ करना, दान देना, कृषि कार्य एवं पशुपालन और व्यवसाय व्यापार करना। इसी प्रकार शुद्र का अपना धर्म है कि वह ब्राह्मण, क्षत्रीय

एवं वैश्य की सेवा करे, खेती पशुपालन तथा व्यापार करे और शिल्प, गायन, वादन, चारण, भाटी आदि का कार्य करे।

धर्म के सामाजिक स्वरूप का एक अंग आश्रम व्यवस्था भी है। जीवन को एक व्यवस्थित व सुनियंत्रित ढंग से जीवन के अंतिम लक्ष्य मोक्ष तक पहुँचा देने के लिए ही आश्रम व्यवस्था को विकसित किया गया है।

स्वधर्म को धर्म के सामाजिक स्वरूप की एक कड़ी माना जा सकता है। धर्म का स्वरूप व्यक्ति की पात्रता, समय, स्थान कार्य आदि के अनुसार निश्चित होता है। महाभारत में स्वधर्म को पर्याप्त महत्त्वपूर्ण अवधारणा माना गया है।

सामाजिक जीवन में प्रत्येक व्यक्ति की विभिन्न स्थति होती है जैसे वह पिता, राजा, पुत्र, पत्नी, बहन, प्रजा, एक वर्ण विशेष का सदस्य या एक आश्रम विशेष का सदस्य। उपर्युक्त प्रत्येक स्थिति से संबंधित कुछ कार्य अर्थवा नैतिक कर्त्तव्य होते हैं। इन नैतिक कर्त्तव्यों से संबंधित क्रिया-कलापों को निष्ठापूर्वक सम्पन्न करना ही स्वधर्म कहलाता है। उपर्युक्त समस्त विवेचनाओं तथा विचारों के आधार पर धर्म का स्वरूप स्पष्ट हो जाता है।

धर्म का महत्त्व – प्रत्येक देश का इतिहास बहुत कुछ उसके धार्मिक विचारों से प्रभावित होता है। परमात्मा एक है उसका अंश जीवात्मा माना गया है। मोक्ष ही भारतीय शास्त्रों का परम पुरूषार्थ माना गया हैं । उसी की सिद्धि के निमित्त अनेक प्रकार के साधन स्थिर किये गये हैं। हिन्दू मान्यता पुनर्जन्म में विश्वास रखती है। इस विचारधारा के अनुसार मनुष्य अपने कर्मों के अनुसार विभिन्न योनी अथवा विभिन्न अवस्थाओं एवं परिस्थितियों को प्राप्त करता है।

परमपुरूषार्थ की प्राप्ति भी धर्म का एक लक्ष्य दृष्टिगोचर होता है। पुरूषार्थ धर्म, अर्थ, काम एवं मोक्ष है। कौटिल्य और वात्सायन ने भी त्रिवर्ग के महत्त्व को स्वीकारा है। धर्म की महत्ता को ये अर्थ और काम के साथ ही स्वीकारते हैं। मनु और याज्ञवलक्य भी त्रिवर्ग का समर्थन करते हुए धर्म, अर्थ और काम का विरोध होने पर धर्म की ही प्रमुखता प्रतिपादित करते हैं।

राजधर्म – प्राचीन भारत में धर्म और राजनीति के बीच गहरा संबंध रहा है। प्रत्येक राजा को अपने राज्याभिषेक के समय यह प्रतिज्ञा करनी होती थी कि वह धर्म की स्थापना तथा रक्षा करेगा। राजा के व्यक्तिगत एवं राजनैतिक जीवन पर धर्म का पर्याप्त प्रभाव रहता था। कई एक धर्मशास्त्रों ने धर्म का उल्लंघन करने या उसके विरूद्ध काम करने पर राजा को दण्ड देने की भी व्यवस्था की है। अनेक ग्रंथाकारों के समान भारतीय राजनीतिशास्त्री भी राजसत्ता का अन्तिम आधार, दण्ड या बलप्रयोग समझते थे। यदि राजसत्ता अपराधियों को दण्ड न देगी, तो समाज में अराजकता या मत्स्यन्याय शुरू होगी। दण्ड के भय से ही लोग न्याय पथ का अनुशरण करते हैं, जब सबलोग सोते हैं, तब दण्ड उसका रक्षण करता है। संक्षेपत: दण्ड ही धर्म है, ऐसे भारतीय शास्त्रियों की धारणा थी।[7] भारत की धार्मिक एवं सांस्कृतिक परंपराओं ने वस्तुत: धर्म को राजा से अधिक सम्माान प्रदान किया है। राजा धर्म से ऊपर नहीं वरन् धर्म के अधीन माना गया।

शुक्रनीति में कहा गया है कि अर्थशास्त्र का क्षेत्र न केवल सम्पत्ति-प्राप्ति के उपायों की चर्चा करना है, किन्तु शासनशास्त्र के सिद्धांतों को भी प्रस्थापित करना है। कवि दण्डी ने कौटिल्य के ग्रंथ को दण्डनीति नाम दिया है। वस्तुत: इस विवेचन से हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि राजशास्त्र के इतिहास में प्रथम वह 'राज धर्म' के नाम से विदित था, पीछे 'दण्डनीति' यह नाम अधिक लोकप्रिय हुआ। आगे चलकर राजनीतिशास्त्र या नीतिशास्त्र से अधिकाधिक लोकप्रिय हुआ। यही कारण है कि राजधर्म, राज्यशास्त्र, दण्डनीति, नीतिशास्त्र, अर्थशास्त्र इत्यादि नामों से प्राचीन भारत में राजनीतिशास्त्र को सम्बोधित किया जाता है। इसमें से राजधर्म व राज्यशास्त्र, ये नाम इस वास्ते दिये गये थे कि उस समय नृपतंत्र या राजतंत्र सामान्यत: प्रचलित था। इसलिए शासनशास्त्र को ''राजधर्म'' नाम देना स्वाभाविक था। इस प्रकार धर्मशास्त्र एवं अन्य ग्रंथ जब राजा के कर्त्तव्यों तथा अधिकारों का वर्णन करते हैं तो वे उसे 'राजधर्म' की संज्ञा प्रदान करते हैं।

स्वाभाविक रूप से धर्म के सामाजिक स्वरूप की एक कड़ी राजधर्म थी । धर्म को जड़ अथवा स्थित वस्तु नहीं माना जा सकता जिसे विभिन्न परिस्थितियों तथा विभिन्न समाजों में लागू कर दिया जाये। नैतिक कर्त्तव्यों को धर्म का स्वरूप माना जाता है और नैतिकता का संबंध सामाजिक आदर्श तथा मूल्यों से है और यह संभव नहीं कि सामाजिक मूल्य तथा आदर्श समान प्रकार के हों, इनमें परिवर्त्तन होना स्वाभाविक रहता है। राजधर्म इसी सत्य को स्वीकारता है। वस्तुत: धर्म को हम गतिशील धारण या नियम भी कह सकते हैं। धर्म के सामाजिक स्वरूप के अन्तर्गत राजधर्म महत्त्वपूर्ण अवधारणा है।

प्राचीन भारतीय ग्रंथों पर इस बात पर पर्याप्त बल दिया गया कि राजा को धर्म के अनुकूल शासन करना चाहिए।

तत्कालीन मौर्य प्रशासन में अथवा राजतंत्र में राजा के कर्त्तव्य, अधिकार, न्याय-व्यवस्था एवं व्यक्तिगत रूप से राजा के धर्म का अवलोकन राजधर्म एवं व्यक्तिगत रूप से धार्मिक सहिष्णुता की धारणा का अवलोकन से स्थिति की स्पष्टता प्रतिबिम्बित होती है।

राजा – कौटिल्य प्रबल शक्तिशाली राजतंत्र के समर्थक थे। राजा सर्वशक्तिमान है। कार्यपालिका, न्यायपलिका और सेना का वह सर्वोच्च अध्यक्ष है।

आत्मसम्पत् – राजा को कुलीन, वृद्धों की सेवा करनेवाला, धार्मिक, सत्यवादी, सत्यप्रतिज्ञ, धैर्यशाली, दूरदर्शी, कृतज्ञ,

उच्चाकांक्षी, महोत्साही, क्षिप्रकारी, दृढ़बुद्धि, शास्त्रमर्यादापालक, समर्थ, सामंतों से सेवित और सभा में उपस्थित रहने वाला होना चाहिए। राजा का अधिकार- कौटिलय ने राजा को सर्वप्रभुता संपन्न बनाया है। राज्यशासन और न्याय का वह अधिष्ठाता है। राजा की रक्षा - कौटिलय ने राजा की सुरक्षा पर विशेष बल दिया है। राजा की दिनचर्या - कौटिल्य ने राजा की दिनचर्या का भी विस्तार से वर्णन किया है। दिन-रात के आठ-आठ प्रहरों के अनुसार उसको आचरण करना चाहिए। उत्तराधिकार - कौटिल्य ने सामान्यत: ज्येष्ठ पुत्र को उत्तराधिकारी माना है, परन्तु वह आत्मसम्पत् से युक्त होना चाहिए।[8] राजप्रसाद - कौटिल्य ने व्यवस्था दी है कि राजा के निवास के लिये विशेष सुरक्षा और सुविधाओं से सम्पन्न राजप्रसाद का निर्माण किया जाना चाहिए। राजा के कर्त्तव्य - कौटिल्य ने राजा के कर्त्तव्यों का विशेष रूप से निर्देशन किया है। प्रजा का कल्याण करना ही उसका प्रमुख कर्त्तव्य है। मंत्रि-परिषद् - राजा के विविध कार्यों में मंत्रणा देने के लिये कौटिल्य ने मंत्रियों (अमात्यों) को नियुक्त करने का परामर्श दिया है। मंत्रि-परिषद् की उपयोगिता कौटिल्य का कथन है कि सभी कार्यों को आरंभ करने से पूर्व मंत्रणा करना अनिवार्य है।[9] मंत्रणा की प्रणाली - आवश्यक कार्यों के उपस्थित होने पर राजा मंत्रि-परिषद् को बुलाता है।[10] मंत्रियों के वेतन - कौटिल्य का कथन है कि मंत्रियों को पद, योग्यता और महत्त्व के अनुसार वेतन दिया जाना चाहिए। प्रमुख अधिकारी और उनके कार्य - कौटिल्य ने राजकीय कार्यों के संचालन के लिये और निर्णयों के कार्यान्वयन के लिये विभिन्न अधिकारियों की नियुक्ति करने की व्यवस्था की है। इन अधिकारियों को तीर्थ कहा गया है। विभिन्न अध्यक्ष - कौटिल्य ने विभिन्न विभागों के अध्यक्षों की नियुक्ति का निर्देश किया है। जैसे - कोषाध्यक्ष, आकराध्यक्ष आदि। दूत और गुप्तचर - कौटिल्य ने दूत के तीन भेद किये हैं - निसृष्टार्थ, परिमितार्थ और शासनहर। कोष - राज्य के संचालन के लिए कोष की उपयोगिता सबसे अधिक है। कौटिल्य ने आय-मुख के मार्ग गिनाये हैं - दुर्ग, राष्ट्र, खान, सेतु, व्रज और वणिक्पथ । मूल, भाग, ब्याजी, परिध, क्लृप्त, रूपिक और अत्यय राजकोष की वृद्धि करते हैं।[11] पुर और जनपद - शासन की सुविधा के लिए राज्य का पुर और जनपद दो भागों में संगठन का विधान किया गया था। अन्तर्राज्य संबंध और परराष्ट्र नीति - कौटिल्य के समय में भारतवर्ष अनेक छोटे प्रदेशों में विभक्त था। अत: पारस्परिक संबंधों के लिए राजनीतिज्ञों ने मण्डल सिद्धांत का आश्रय लिया था। परराष्ट्र नीति के संबंध में कौटिल्य ने भारतीय राजनीति में षाड्गुण्य के सिद्धांत का प्रतिपादन किया था। गणतंत्र - कौटिल्य राजतंत्र के प्रबल समर्थक थे। परन्तु 'अर्थशास्त्र' में कुछ और भी अन्य प्रकार के राज्यों का वर्णन है। इसमें द्वैराज्य, वैराज्य, और संघराज्य उल्लेखनीय है। कुछ लेखक इनको गणतंत्र कहते हैं । न्याय प्रणाली - कौटिल्य की न्याय-व्यवस्था का वर्णन महत्त्वपूर्ण है । कौटिल्य ने न्याय प्रशासन को दो भागों में विभक्त किया है - व्यवहार और कष्टकशोधन । सेना - कौटिल्य ने सेना के चार प्रमुख अंग कहे हैं। (चतुरंगिणी सेना)। इनकी सहायता के लिये विशिष्ट होते थे। सेना के साथ चिकित्सक और सेविकायें भी आवश्यक है।[12] युद्ध - युद्ध तीन प्रकार का है। - धर्मयुद्ध, कूटयुद्ध और तूष्णीकयुद्ध।

कौटिल्य का महत्त्व तथा विशेषतायें - प्रशासन के संगठन और दण्डनीति के विषय में कौटिल्य के महत्त्व का मूल्यांकन असंदिग्ध रूप से सराहनीय है। भारतीय राजशास्त्र का यह सबसे पहला विशुद्ध राजनीतिक ग्रंथ है। भारतवर्ष की राजनीति और प्रशासन व्यवस्था में इसने सदा मार्गदर्शक का कार्य किया है।

धार्मिक सहिष्णुता की अवधारणा - मौर्यकाल की धार्मिक स्थिति अथवा तत्कालीन प्रचलित धर्मो पर विहंगम दृष्टि डालने पर ज्ञात होता है कि तत्कालीन समाज में ब्राह्मण अथवा वैदिक धर्म, बौद्ध धर्म, निर्ग्रन्थ सम्प्रदाय (जैन धर्म) आजीवक सम्प्रदाय तथा तन्त्र-मंन्त्र आदि का भरपूर प्रचलन था। इस प्रकार चन्द्रगुप्त मौर्य प्रारंभ में ब्राह्मण धर्म अथवा वैदिक धर्म को प्रोत्साहन दे रहा था। परन्तु बाद में चन्द्रगुप्त निर्ग्रन्थ सम्प्रदाय में दीक्षित हो गया और अन्त तक उसी सम्प्रदाय को उसने अपनाये रखा। चन्द्रगुप्त के जैन धर्म अंगीकार करने के संदर्भ में प्रो. भगवती प्रसाद पाथरी ने भी लिखा है - ''जैन अनुश्रुति के अनुसार वह जीवन के अंतिम दिनों में जैन हो गया था यद्यपि चाणक्य ने उसे ब्राह्मण धर्म छोड़कर जैन धर्म स्वीकार करने से रोकने के लिए बहुत प्रयास किया था। जैन होने पर चन्द्रगुप्त ने समाधि द्वारा अपनी जीवन लाला समाप्त की थी।[13] जीवन के अंतिम दिनों में यह तो निश्चित है कि उसका आकर्षण जैन-धर्म की ओर बढ़ा परन्तु उसके अन्तिम दिनों के विवरण जिसमें उसके प्राण त्याग के संदर्भ में विद्वानों और साक्ष्यों के अनुसार मतभेद है।

चन्द्रगुप्त के पश्चात् बिन्दुसार मौर्य साम्राज्य का शासक बना। प्रो. भगवती प्रसाद पांथरी ने बिन्दुसार के सदर्भ में लिखा है - वह निश्चय हीं विभिन्न धर्मो के प्रति सहिष्णु और उदार था।[14] उपर्युक्त कथन से ऐसा प्रतीत होता है कि बिन्दुसार के शासनकाल में भी धार्मिक परिस्थितियाँ चन्द्रगुप्त मौर्य के समान ही थी।

अशोक के समय की धार्मिक स्थिति का अवलोकन उसके अभिलेख अत्यंत ही सुन्दर ढंग से कराते हैं । अशोक के अभिलेख तीन रूपों में प्राप्त हुए हैं (1) शिलालेख (2) स्तम्भ लेख तथा (3) गुहा लेख ।

सम्राट अशोक का काल धार्मिक सहिष्णुता की दृष्टि से प्राचीन भारत का उत्तम काल कहा जा सकता है।

RRIJM 2015, All Rights Reserved

कलिंग युद्ध के उपरान्त ही अशोक ने बौद्ध धर्म ग्रहण किया। अशोक ने 'धम्म' के विभिन्न उपदेशों का विवरण उसके अभिलेखों में उत्कीर्ण है जो कि उसने अपने निरीक्षण में कराया था। अशोक ने अपने अभिलेखों में पशु वध न करने पर भी जोर दिया।

इस प्रकार हम देखते हैं कि अशोक की धम्म नीति बड़ी उदार और सहिष्णु थी। बी.एन. लूनिया ने भी अशोक के धर्म के विषय में लिखा है ''अशोक के धर्म में धार्मिक कटुता और संकीर्णता को स्थान नहीं था। उसमें धार्मिक उदारता और सहिष्णुता थी। स्वयं अशोक समस्त प्रचलित धर्मों के प्रति आदर और श्रद्धा रखता था। उसका धर्म प्रचार अन्य लोगों की धार्मिक भावना पर आघात करने या उसमें हस्तक्षेप करने के लिए नहीं था। वह ईश्वर के पितृत्त्व और मानव के मातृत्त्व में विश्वास रखता था।[15]

मौर्य काल में बौद्ध धर्म अथवा अशोक के धम्म को ही न केवल समाज में विशेष दर्जा प्राप्त था अपितु अन्य सभी धर्मों का भी अपना विशेष स्थान था।

निष्कर्ष

हम कहते हैं कि भारतीय समाज सदा से धर्म परायण समाज रहा है। धर्म की यह परंपरा भारतीय समाज की अति प्राचीन परम्परा है और पूर्व वैदिक काल से इसकी निरंतरता अविच्छिन्न रूप से बनी हुई है। वस्तुतः धर्म को हम गतिशील धारणा या नियम भी कह सकते हैं।

धर्म के सामाजिक स्वरूप के अंतर्गत राजधर्म महत्त्वपूर्ण अवधारणा है। धर्म को राजा के ऊपर माना गया है।

मौर्य काल में भी किसी भी धर्म को, किसी भी धर्म द्वारा अथवा किसी भी राजा द्वारा प्रताड़ित करने अथवा हेय दृष्टि से देखने का कोई उदाहरण नहीं मिलता, अपितु तत्कालीन समाज में अहिंसा और लोक कल्याण की भावना विद्यमान थी। तत्कालीन विभिन्न धर्मों की अपनी मान्यतायें थी। इसी बीच अशोक का धम्म भी था। अशोक के जनकल्याण के कार्य तो विश्व इतिहास में अमिट है वस्तुतः यह कहना अधिक समीचीन होगा कि मौर्यकाल में इन परिस्थितियों का लाभ उठाकर विभिन्न धर्मावलम्बियों ने अपने धर्मों को उन्नत करने का प्रयास किया। इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि मौर्यकाल धार्मिक सहिष्णुता के दृष्टिकोण से उन्नत दशा में था। इस काल में धर्म एवं राजधर्म का उचित पालन एवं समन्वय दृष्टिगोचर होता है।

संदर्भ-सूची

1. डॉ. ईश्वरी प्रसाद - प्राचीन भारतीय संस्कृति कला, राजनीति, धर्म तथा दर्शन, पृ. 520
2. बी.जे. गोखले - इंडियन थॉट थ्रू दि ऐजेज, पृ.24
3. डॉ. पी.वी. काणें - धर्मशास्त्र का इतिहास, भाग-1, पृ.3
4. महाभारत कर्णपर्व - 68/58
5. याज्ञवल्लक्य स्मृति - 01/3
6. कौटिल्य अर्थशास्त्र - 1/2/3
7. मनु. 8.14
8. अर्थशास्त्र - 1.17.54
9. मन्त्रपूर्वाः सर्व आरम्भाः । अर्थशास्त्र - 1.15.2
10. अर्थशास्त्र - 1.15.63
11. अर्थशास्त्र - 2.6.10
12. अर्थशास्त्र - 10.5.62
13. प्रो. भगवती प्रसाद पांथरी - सम्राट चन्द्रगुप्त मौर्य, पृ. - 69
14. प्रो. भगवती प्रसाद पांथरी - पूर्वोक्त, पृ. -66
15. बी.एन. लूनिया - प्राचीन भारतीय संस्कृति, पृ. - 421

RRIJM 2015, All Rights Reserved